लोक मंच

सितंबर अंक में कर्म के मनोविज्ञान के विविध पक्षों पर सरस भाषा में विस्तार से विचार किया गया है। स्थापना यह है कि 'फल परिश्रम की कालावधि की प्रतीक्षा व धैर्य की परिणति है। इसीलिए फल का आनंद क्षणिक होता है, बेशक उसके परिणाम का प्रभाव दीर्घकालिक सुख–दुख का सृजन करता है। इसीलिए कर्म में उत्साह रखने को कहा जाता है, क्योंकि कर्म अनवरत चलता रहता है, फल कभी–कभी समय विशेष पर उपलब्ध होता है।

वैसे तो कर्म की महत्ता का गुणगान सर्वत्र दिखाई देता है, परंतु कौन–सा 'कर्म', 'कैसे' करणीय है, इस पर कम ही लोग ध्यान देते हैं, फलतः उनका कर्म अनेक दुष्प्रवृत्तियों का शिकार बनकर कुकर्म जैसा हो जाता है, नहीं तो क्या कारण है कि सब लोग अपने–अपने ढंग से काम कर ही रहे हैं, फिर भी कर्म का प्राधान्य न होकर तिकड़म, जुगाड़, धोखाधड़ी, जालसाजी, रिश्वतखोरी जैसे अपराधों पर आश्रित सफलता ही दिनोंदिन समाज में बढ़ती जा रही है।

राजेश कुमार मिश्र, कोलकत्ता

नए दौर में कामगारों की दशा' वाले आलेख में राकेश त्रिपाठी ने व्यापक स्तर पर व्याप्त उस अंतर्विरोध को चिन्हित किया है, जहाँ एक ओर तमाम संस्थानों में प्रवेश से लेकर उत्तीर्ण होने वाले पेशेवरों की संख्या दिन–दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है तो दूसरी ओर योग्य दक्ष व कुशल कामगारों को सृजित करने में ये संस्थान पिछड़ रहे हैं। यह भी सही है कि आउटसोर्सिंग से रोजगार तो बढ़े, पर युवकों को बहुत कम वेतन पर वह भी सारी–सारी रात जागकर काम करना पड़ता है। इस बेतरतीब कार्यशैली से मनोवैज्ञानिक और शारीरिक स्वास्थ्य में भारी गिरावट आती है, जिसका प्रतिकूल असर परिवार के बाद उस नियोक्ता कंपनी पर भी पड़ता है, लेकिन कंपनियाँ तो 'लिखो–फेंको' की नीति पर चलती हैं। युवा कामगारों का भरपूर दोहन करने के बाद उन्हें बाहर का रास्ता दिखाने में भी देर नहीं लगातीं।

कुशलपाल राणा, मुजफ्फर नगर, उ.प्र.

साहित्यकार समय की शिला पर ऐसा चिन्ह दे पाता है जो चिर शाश्वत होते हुए भी व्यक्ति व समाज के लिए नवीन होता है। स्त्री के प्रति रामवृक्ष बेनीपुरी की दृष्टि ऐसी ही है जो पिछले तिरसठ साल के बाद भी नई ही लगती है। शायद इसीलिए उन्होंने नारी संबंधी आलेख का नाम भी 'नई नारी' ही रखा। जिस महिला सशक्तीकरण और राजनीति में उसके आरक्षण की बात आज की जा रही है, उसकी जरूरत बेनीपुरी ने आजादी के तुरंत बाद महसूस कर लिया था। तभी कहा था, 'आजादी भीख माँगने से नहीं मिलती, न आपको मिली न महिलाओं को मिलेगी।'

यह बेनीपुरी की पारदर्शी प्रतिभा का प्रताप है कि उन्होंने स्त्रियों को लेकर समाज में व्याप्त शोषण, अत्याचार, कुरीति आदि को बहुत पहले न केवल देख लिया था, बल्कि उससे आगाह भी किया था।

मनोज रघुवंशी, जोधपुर, राजस्थान

रामचन्द्र शुक्ल का 'उत्साह' साहित्य में शीर्ष कोटि का निबंध है। यह विचार प्रधान आलेख है, जहाँ साहित्यिक विचार व शैली की उस ऊँचाई का बोध होता है, जहाँ मनुष्य–मात्र को उसकी मूल प्रवृत्ति 'मनुष्यता' का सन्निकट आभास होता है। अपनी दिशा–दृष्टि व रुचि के अनुरूप काम में व्यक्ति उत्साह रखता है, चाहे वह कैसा ही हो। आखिर चोर चोरी में, डकैत डकैती में उत्साह रखते हैं।

उत्साह से ही संपन्न होने वाला ऐसा कर्म सात्विक की श्रेणी में नहीं आता। अर्थात् सच्चा उत्साह नहीं होता जो दूर तक उत्साह का आनंद निर्मित करे। शुक्ल जी भी यही कहते हैं कि कर्म में आनंद अनुभव करने वालों का नाम ही कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनंद भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फलस्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास व दृष्टि होती है, वही लोकोपकारी कर्मवीर का सच्चा सुख है।

अमित कुमार, शकरपुर, दिल्ली

शिक्षण पेशे में आज इतनी गिरावट आ चुकी है कि इसकी अनुगूँज सर्वत्र सुनाई दे रही है। निजी शिक्षण संस्थान व्यावसायिक प्रतिष्ठान में तब्दील हो ही चुके हैं जहाँ पैसे ले–देकर डिग्रियाँ बाँटी–बटोरी जा रही हैं। समाज में अच्छे चरित्रवान व सुपरिवर्तन की सोच वाले शिक्षकों अभाव हो गया है। इसलिए एक अखिल भारतीय शिक्षा सेवा आयोग गठित कर संघ लोक सेवा आयोग की तरह शिक्षकों की नियुक्ति राष्ट्रीय स्तर पर दो–तीन चरणों की परीक्षा, प्रतियोगिता व साक्षात्कार द्वारा की जानी चाहिए और फिर उसके बाद उचित प्रशिक्षण। तभी सुयोग्य शिक्षकों का अभाव खत्म होगा और शिक्षक व छात्र का संबंध ज्यादा प्रासंगिक बनेगा। इससे शिक्षा का उचित वातावरण तैयार होगा।

उमेश कुमार, फरीदाबाद, हरियाणा

भारतीय दर्शन में जब आसक्ति और फल की इच्छा के बिना कर्म करने को ही अनुचित बताया गया है तो फिर कर्म में ऐसी आसक्ति और चोरी–छुपे फल खोजने और प्राप्त करने का प्रयत्न वैधानिक व नैतिक दृष्टि से बिल्कुल अनुचित है। सही है कि आज की प्रत्येक अच्छाई–बुराई की जड़ में पैसे की भूख है। और तो और जो लोग अच्छी दिशा में प्रयत्न करते हैं, उन्हें भी ये लोग किसी न किसी तिकड़म से पथभ्रष्ट करने में लगे रहते हैं।

आशा त्यागी, सोनीपत, हरियाणा

संपादकीय

सत्यांश

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश देते हुए अंतिम निष्कर्ष रूप में मुख्यतः दो बातें कही हैं जो दूर तक परस्पर विरोधी लगती हैं। श्रीकृष्ण ने कहा, 'अर्जुन तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा ही करो'—'यथेच्छसि तथा कुरु।' फिर कहते हैं—'मन्मना भवमद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोडसि मे।। सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।'

अर्थात् हे अर्जुन! तू मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करने वाला बन और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यंत प्रिय है। संपूर्ण धर्मों—कर्तव्यकर्मों को त्याग कर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान परमेश्वर की शरण में आ जा। मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा।

इस प्रकार श्रीकृष्ण एक ओर तो अपना सर्वसमर्थ रूप दिखाते हुए तत्वज्ञान प्रत्येक प्रकार से समझाते हैं और फिर अंततः जैसी मर्जी वैसा करने की सलाह भी देते हैं। मन को अर्पित करने वाला भक्त बनकर प्रणाम करने और शरण में आने को भी कहते हैं। बात सिर्फ इतनी होती तो कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण एक अच्छे गुरु की भाँति अपने गुरुत्व की गरिमा का एहसास दिलाते हुए सारी बात समझाते हैं और निर्णय थोपने की बजाय अर्जुन को खुद की चेतना के अनुकूल फैसला करने को कहते हैं। यही एक अच्छे आचार्य का धर्म है।

अपना पूजन कराने, प्रणाम कराने और अपनी शरण में बुलाने का काम शक्तिमान हर शख्स चहता है। यह सामंती और अहंकारी भाव है जिससे मनुष्य अपवादस्वरूप भी परे नहीं रहता। प्राचीन काल में बड़े—बड़े ऋषि—महर्षि, देवी—देवता भी थोड़ी आदर—श्रद्धा में कोताही—चूक हुई नहीं कि शाप दे देते थे। शासक, बॉस एक 'नमस्ते' की अदा पर करियर बना—बिगाड़ सकते हैं। वर्तमान में यह सामान्य शिष्टाचार प्रशंसा से आगे बढ़कर खुशामद, चापलूसी, मक्खन लगाने तक पहुँच चुका है। बड़े नेता, शासक व अधिकारी ही नहीं, आज के संत—महात्मा भी यही पसंद करते हैं। ये 'बड़े' होकर भी नितांत सतही व तुच्छ चीजों के आकांक्षी होते हैं। यह स्थिति सर्वत्र है, लेकिन यह साधारण जीवों, तुच्छ प्राणिओं का लक्षण है। इसलिए 'महामानव' या 'बड़प्पन' के मुखौटे के भीतर छुपी तुच्छता या नीचता का निदर्शन कराता है।

कृष्ण तो महामानव ही नहीं, स्वयं ईश्वर थे। उन्होंने क्यों कहा कि मुझे प्रणाम करो, मेरी शरण में आओ। मित्र का स्थान शरणागत होने का नहीं, बराबरी का होता है। इन्हीं श्रीकृष्ण ने राजमहल के सबसे छोटे सेवक से भी दीन—हीन सुदामा को अपने सिंहासन पर बिठाकर स्वयं पैर पखारा था। स्वयं राम ने भी कभी किसी को जोर देकर अपना शरणागत होने को नहीं कहा, हो या ना हो, यह उसकी मर्जी। यही उत्तम व्यवहार है। वस्तुतः जिन्हें अपनी अहंमन्यता का साम्राज्य विस्तृत करना होता है, वे दूसरों को अपनी ओर खींचने, झुकाने व शरणागत बनाने का प्रयास करते हैं। शासक, राजनेता, अधिकारी का तो यह सामान्य 'गुण' है ही, देवी—देवताओं में भी ऐसी अहंमन्यता के चित्रण के दर्शन होते हैं। परंतु श्रीकृष्ण का उपदेश व ज्ञान भी व्यवहार का ही था। वे व्यावहारिक विद्वान थे, तो फिर उन्होंने क्यों कहा कि अर्जुन को मित्र—सखा होने से काम नहीं चलेगा। उसे उनकी शरण में आना ही होगा, तभी वह पापमुक्त होगा। क्या सखा—मित्र होना पर्याप्त नहीं था इसके लिए। यदि होता तो क्यों कहते?

वस्तुतः श्रीकृष्ण को मनुष्य के इस दुर्बल अहंकार का हजारों साल पहले भी आभास ही नहीं, पक्का विश्वास रहा होगा कि मनुष्य 'सुनो सबकी, करो अपने मन की' के अस्तित्ववादी विचार में पूरा विश्वास रखता है। यह आज का ही धूर्तवाक्य नहीं है। निःसंदेह सबका सुनकर भी वैसा नहीं किया जा सकता। तर्क, वितर्क, बहस, ग्रंथ आदि द्वारा 'जैसी इच्छा वैसा करने' की बुद्धि परिपक्व होती है। चेतना समृद्ध हो जाती है और चाहना चेतनानुगामी भी हो सकती है। लेकिन यह जरूरी नहीं है। अक्सर चेतना चेतना की जगह और इच्छा इच्छा की जगह ही रहती है। इसलिए सब कुछ समझाने के बाद अर्जुन को जब कृष्ण 'जैसी मर्जी वैसी करने को' कहते हैं तो यह अर्जुन की 'जागृत चेतना के विश्वास की परीक्षा है। श्रीकृष्ण अर्जुन जैसे धीर—वीर अपने परमप्रिय सखा की भी इस मानवोचित दुर्बलता से भली—भाँति हैं कि इतना कहने, सुनने और अपना परमब्रह्म वाला साक्षात् रूप दिखाने के बाद भी अर्जुन शायद ही यह स्पष्ट फैसला कर पाए कि अब उसे क्या करना है। संकल्प व विकल्प से वह परे नहीं है और किसी प्रकार समझा—बुझा कर क्रियाशील करने से भी सुदीर्घ रास्ता तय नहीं होता, जब तक यह स्वयं की रुचि व स्वप्न संकल्प न बन जाए।

अर्जुन कृष्ण का अत्यंत प्रिय मित्र है, जिसे वे स्वयं भी कहते है, 'प्रियोडसि मे'। इसी प्रियता के कारण प्रणाम करने, शरण गहने के लिए नहीं कहना चाहिए, वह भी कहते हैं ताकि अर्जुन बुद्धि विभ्रम का शिकार न हो। सब कुछ छोड़कर अपने को पूर्णतः समर्पित करके केवल उनकी शरण में आए और उनका कहना माने, इसी में उसका कल्याण है अधिक उधेड़बुन, तर्क—वितर्क और ज्ञान—विज्ञान के चक्कर में पड़ने से नहीं। इससे अन्तर्द्वन्द्व ही अधिक बढ़ने की संभावना है। पर आज श्रीकृष्ण व चाणक्य कहलाने वाले नामचीन लोग शरणागत बनाना चाहते हैं तो सिर्फ अपने स्वार्थ—फायदे के लिए। किसी रूप में अपना स्वार्थ—साधन हो जाए तो बदले में शरणागत की भी कुछ स्वार्थपूर्ति करा देते हैं। पहले यदि शरणागत की करा दी तो उसके बदले किसी न किसी प्रकार की अपनी स्वार्थ साधना की आकांक्षा जरूर रखते हैं। ऐसी अपेक्षाओं का पूर्णापूर्ति के अभाव में कड़वाहट, विग्रह व विद्रोह उत्पन्न होता है।

आज श्रीकृष्ण जैसा कोई है, जिस पर सारा साहित्य प्रवचन, संभाषण—संवाद त्यागकर या इनसे ऊपर उठकर भरोसा किया जा सके, उसके कथन—व्यवहारानुसार किया जा सके, अथवा आज सारे ही 'कृष्ण' हैं, 'अर्जुन' कोई नहीं! ☆